शाह अस्त हुसैन अ० बादशाह अस्त हुसैन अ०

सैय्यिदुल उलमा के खुतबे (2)

यह तक़रीर ऑल इण्डिया रेडियो स्टेशन लखनऊ से दस मुहर्रम 1364हि० में प्रसारित हुई।

बेशक हुसैनअ० शाह थे और बादशाह भी थे मगर वह दुनियावी बादशाह न थे। न उस बादशाहत की कभी चाहत रखते थे, न उन्होंने उस बादशाहत के लिए जंग की।

"दुनियावी बादशाह" वह होता है जो ताज व तख़्त रखता हो जो शानो शौकत का मालिक हो जिसके गिर्द फ़ौज और लश्कर जमा रहता हो मगर हुसैनअ० तो उस नाना के नवासे थे जो दो-दो वक़्त भूख से पेट पर पत्थर बाँधा करते थे जिनके घर से कई-कई दिन धुँआ न उठता था। उस माँ के बेटे थे जो अपने घर में चक्की पीसती थी, चर्ख़ा चलाती थी और झाड़ू देती थी। उस बाप के बेटे थे जो बाग़ों में जाकर मज़दूरी करता था और मेहनत व मशक़्क़त करके अपने और अपने बच्चों का पेट पालता था।

उनके नाना अल्लाह के रसूलस० का कुदरती जाहो जलाल इतना ज़्यादा था कि रोम और ईरान के दरबारों को देखने वाले कहते थे कि वहाँ वह रोब व दाब नहीं जो यहाँ नज़र आता है मगर उन्होंने कभी अपने को बादशाह कहा जाना पसन्द न किया। उनके सामने जब एक अरब का रहने वाला आया और हैबत से थरथराने लगा तो उन्होंने कहा संभल जा संभल जा मैं कोई बादशाह नहीं हूँ। मैं तो अरब की एक ग़रीब औरत का बेटा हूँ जो बहुत मामूली खाना खाती थी।

उनकी मुक़द्दस माँ हज़रत फ़ातिमा ज़हरास० पैग़म्बरे इस्लामस० की इकलौती बेटी थीं जो इतनी सख़ी और ख़र्च करने वाली थीं कि घर से किसी साएल को कभी ख़ाली हाथ नहीं लौटाया मगर अपने मुक़द्दस बाप की फ़क़ीराना सीरत की ऐसी पैरवी करती थीं कि दरवाज़े पर एक पुराने पर्दे के सिवा कोई दूसरा पर्दा नज़र न आया। एक ज़माने तक तो घर के काम के लिए कोई कनीज़ या नौकरानी ही नहीं थी। जब एक कनीज़ जिसका नाम फ़िज़्ज़ा था पैग़म्बर ने घर के काम-काज के लिए दी तो यह हिदायत कर दी कि एक दिन घर का काम तुम करना एक दिन फ़िज़्ज़ा से लेना हज़रत फ़ातिमास० ने हमेशा इसी पर अमल किया।

हुसैनअ० के बुलन्द मर्तबा बाप हज़रत अली मुर्तज़ाअ० इस्लाम के सबसे बड़े कमाण्डर, सबसे बड़े फ़ातेह, पैग़म्बरे ख़ुदास० के वज़ीर और मुसलमनों के सरदार थे, जिन्हें रसूलस० ने ख़ुद अमीरुलमोमिनीन का ख़िताब दिया था और जिन्हें आज तक बच्चा-बच्चा जनाबे अमीर के नाम से याद करता है मगर इस सरदारी के बाद भी ग़रीबी की ज़िन्दगी गुज़ारते थे ऐसी के भूसी मिला हुआ जौ का आटा खाने में खाते थे और पेवन्द लगे कपड़े पहनते थे ऐसे नाना की गोद में पल कर ऐसी माँ की परवरिश उठाकर और ऐसे बाप की तालीमात हासिल करके अपनी ख़ुद की बनाई हुई बुलन्द फ़ितरत के साथ-साथ हुसैनअ० का मिज़ाज भी फ़क़ीराना न होता तो और क्या होता। मेहरबानी, बुज़ुर्गी और ख़ूबसूरती की शान उनमें उनके ख़ानदान जैसी थी मगर शाही ग़ुरूर और घमण्ड, शाही जाह व हशमत, शाहाना तनतना न तमतराक़ और सबसे ज़्यादा शाही सियासत की धोखेबाज़ी से उनको दिली नफ़रत थी। और इस बुनियाद पर न वह बादशाह थे न अपने को बादशाह समझते थे न दूसरों की ज़बान से बादशाह कहे जाने को पसन्द करते थे।

वह उस बादशाहत के कभी तालिब नहीं हुए उस वक़्त जब हज़रत इमाम हसनअ० ने मुआविया से मुसालेहत करके तख़्ते सलतनत उसके हवाले कर दिया तो बहुत से आदमी अच्छे-अच्छे मुमताज़ दर्जे के लोग हज़रत इमाम हुसैनअ० से कह रहे थे कि आप खड़े हो

जाइये हम आपकी मदद करेंगे।

अगर आपके दिल में सलतनत की कोई चाहत होती तो यह बहुत अच्छा मौक़ा था मगर आपने इन्कार किया फिर उस वक़्त कि जब हज़रत इमाम हसन[अ०] की वफ़ात हो गई तो लोग फिर हज़रत इमाम हुसैन[अ०] के पास आये और कहा कि अब खड़े हो जाइये। हज़रत ने फिर भी इन्कार कर दिया और बराबर ख़ामोशी की ज़िन्दगी गुज़ारते रहे इससे साफ़ ज़ाहिर है कि हज़रत इमाम हुसैन[अ०] ने दुनियावी सलतनत कभी नहीं चाही।

आपने उस बादशाहत के लिए जंग भी नहीं की। जब आप उसके तालिब ही नहीं थे तो उसके लिए जंग क्या करते? इसके अलावा यह आपके क़ौल व अमल दोनों से नज़र आता है।

अगर आप बादशाहत के लिए जंग करना चाहते तो उसी वक़्त जब आपको साबिक अमीरे शाम की वफ़ात और यज़ीद के तख़्ते सलतनत पर बैठने की ख़बर हुई है और मदीने के हाकिम ने आपको बैअत के लिए बुलाया उसी वक़्त मदीने के हाकिम पर हमला कर देते। मदीने पर क़ब्ज़ा कर लेते और फिर अपनी हुकूमत को बढ़ाते हुए यज़ीद से जंग करते। जबकि अब्दुल्लाह बिन ज़ुबैर के लिए यह मुमकिन हो कि वह हिजाज़ व इराक़ ही में अपनी सलतनत क़ायम करके काफ़ी ज़माने तक शाम की हुकूमत से लड़ते रहें तो हुसैन[अ०] के लिए ऐसा क्यों नहीं मुमकिन था हालांकि आप मुसलमानों के दिलों पर अब्दुल्लाह बिन ज़ुबैर के ज़्यादा इक़्तेदार रखते थे।

इसके बाद जब मक्का में आप पहुँचे तारीख़ बतलाती है कि उस वक़्त लोगों ने अब्दुल्लाह बिन ज़ुबैर के पास आना जाना छोड़ दिया और इमाम हुसैन[अ०] के पास रहने लगे मगर आपने किसी इक़्तेदार की चाहत में उस जमाअत से मदद हासिल करने की ज़रूरत नहीं समझी।

उस वक़्त जब कूफ़े के लोगों ने मज़हबी हिदायत की ग़रज़ से आपको कूफ़े आने की दावत दी तो उन्होंने यह लिखा कि अगर आप आइये तो हम शाम की हुकूमत के गवर्नर को निकाल दें और तख़्ते सलतनत पर क़ब्ज़ा कर लें मगर आपने उनको लिखा कि इमाम का काम सिर्फ़ इतना है कि शरीअत के अहकाम को नाफ़िज़ करे। फ़राएज़े हिदायत को अन्जाम दे और ख़ुदा की तालीमात से बिल्कुल न हटे। इसका मतलब यह था कि मुझे राजधानी या तख़्ते सलतनत की कोई ज़रूरत नहीं है मैं तो सबकी हिदायत और ख़ुदा के अहकाम की तबलीग़ करना चाहता हूँ।

इसी का नतीजा है कि जनाब मुस्लिम बिन अक़ील[अ०] जो हज़रत के नुमाइन्दे होकर कूफ़ा भेजे गये तो उन्होंने ख़ामोशी के साथ एक दोस्त के मकान पर क़याम कर लिया और कोई कोशिश इस बात की नहीं की कि कूफ़े के हाकिम को कूफ़े के तख़्त से हटा दें या राजधानी पर क़ब्ज़ा कर लें।

फिर जबकि न वह बादशाह थे, न बादशाहत के कभी तालिब हुए। न बादशाहत के लिए उन्होंने जंग की तो उन्हें शाह और बादशाह कहने का क्या मतलब यह भी समझने की बात है कि शाह मुईनुद्दीन चिश्ती अजमेरी ने अपनी रुबाई में यह दो लफ़्ज़ें एक साथ लिखी हैं:

शाह अस्त हुसैन[अ०] बादशाह अस्त हुसैन[अ०]
दीन अस्त हुसैन[अ०] दीं पनाह अस्त हुसैन[अ०]
सर दाद नदाद दस्त दर दस्ते यज़ीद
हक़्क़ा के बिनाए ला इलाहा अस्त हुसैन[अ०]

तो क्या शाह और बादशाह दोनों के एक ही माने हैं। इसके माने यह होंगे कि यह दो लफ़्ज़ें सिर्फ़ ज़रूरते शाएरी से मिसरे को पूरा करने के लिए लाई गई हैं बहुत से लोग ऐसा ही समझते हैं हक़ीक़त में ऐसा नहीं है।

जनाब ख़्वाजा ग़रीब नवाज़ ने जिनका मज़ार अजमेर में ज़ियारतगाहे जमहूर है हज़रत शहीदे कर्बला इमाम हुसैन अलैहिस्सलाम की बारगाह में जो अक़ीदत का नज़राना पेश किया है वह कोई मामूली क़द्र व क़ीमत नहीं रखता।

यह और बात है कि आज जब दुनिया सतही और माद्दी उलूम की दीवानी होकर हक़ीक़त और इल्मे बातिन से कोसों दूर जा पड़ी है तो वह उन बुज़ुर्ग अफ़राद की गहरी बातों की तहों तक न पहुँच कर एतेराज़ पर उतर आई है।

हक़ीक़त यह है कि शाह और बादशाह दोनों के अलग-अलग मानी हैं और दोनों के मिलने से शहीदे कर्बला की शख़्सियत और आपके बुलन्द किरदार पर जो तेज़ रौशनी पड़ती है वह कभी उनमें से एक लफ़्ज़ से नहीं पड़ सकती थी।

ग़ौर कीजिये तो इन्सान आँखें खोलकर अपने आस-पास पर जब नज़र डालता है तो हर तरफ़ माद्दी जिस्म, माद्दी हालात और अनासिर से बनी हुई शक्लें उसकी आँखों के सामने आती हैं। वह मुहब्बत करना चाहता है तो

माद्दी अस्बाब के बनाए हुए रिश्ते उसकी मुहब्बत को जज़्ब कर लेते हैं। बचपने में माँ-बाप भाई को पहचाना और उनकी मुहब्बत दिल में बैठी। जवान हुआ तो जज़्बात के धारे में बह कर बहुत से बेगानों से मुहब्बत करने लगा कभी ज़ाती फ़ायदे और इनाम व अता की लालच में किसी का क़रीबी हो गया। उस वक़्त दुनिया अपनी तमाम दिल फ़रेबियों के साथ उसकी आँखों के सामने होती और वह इस काएनात की ख़ूबसूरती में खो जाता है।

वह देखता है तो माद्दी निगाह से, सुनता है तो माद्दियत के कानों से, कामयाबी समझता है तो उसी दुनिया के ज़ाहिरी इक़्तेदार को, मुहब्बत करता है तो वक़्ती फ़ायदों और सामने की दिलरुबा सूरतों को देखकर और नफ़रत करता है तो इसी दुनिया के नुक़सानों और नगवार बातों के एहसास से।

ख़्वाहिश की पूजा और हुकूमत पसन्दी और फिर आख़िर में दहरियत, इलहाद और माद्दा परस्ती सब उसी पहली निगाह में जज़्ब हो जाने के मुख़्तलिफ़ दर्जे हैं।

इस सूरत में बादशाहत अगर होगी तो वह नाम होगा कमज़ोरों को ग़ुलाम बनाने का, फ़क़ीरों को अपना ग़ुलाम और क़ैदी बनाने का और दूसरों का ख़ून चूस कर पेट भरने का, हीला, मक्र और फ़रेब जिस तरह से अपना काम निकालेगा जिसको कहा जाता है मुलूकाना सियासत।

यही वह सलतनत थी जिससे मुहम्मद और आले मुहम्मद हमेशा अलग रहे, न वह बादशाह बने न इस बादशाहत के तालिब हुए न इसके लिए कभी जंग की।

मगर दूसरा दर्जा इन्सान की नज़र व फ़िक्र का यह है कि वह किसी ख़ूबसूरत चीज़ को देखकर उसके बनाने वाले की तरफ़ मुतवज्जह हो, वह अपने आस-पास की काएनात पर ग़ौर करे उस बुलन्द ताक़त की तरफ़ मुड़ जाए जो उन तमाम काएनात की पैदा करने वाली और उन सबके बाक़ी रखने और तरबियत करने वाली है।

जब इन्सान दिल की आँखों से इधर देखेगा तो इमकान की हदों से बढ़कर बिजलियाँ नज़रों के सामने कोंदने लगेंगी वह जमाल नज़र आएगा जिसके मिस्ल कोई जमाल आँख ने कभी देखा नहीं। वह अज़मत महसूस होगी जिसके मिस्ल किसी अज़मत ने दिल पर कभी असर नहीं डाला इस दर्जे तक पहुँचने का तक़ाज़ा यह है कि इन्सान दुनिया की हर चीज़ से आँख बन्द कर ले हर शै से रिश्ता तोड़ ले। न कोई हुस्न अपनी तरफ उसके दिल को माएल कर सके, न कोई ख़ौफ़ उसके दिल को मरऊब कर सके, न कोई दिलकश मुरक़्क़ा उसकी नज़र को अपनी तरफ़ मोड़ सके। बीवी, बच्चे, भाई बहन अज़ीज़ अक़ारिब किसी से उसकी दिलबस्तगी न हो। वह पहाड़ों की ऊँची-ऊँची सतहों पर ग़ारों की अंधेरी गहराईयों के अन्दर जंगल की वसीअ़ फ़िज़ाओं में उसी एक मरकज़े हुस्न की याद में डूबा रहे कि जिससे ज़्यादा हसीन जलवा उसे कहीं नज़र नहीं आ सकता।

जो इस दर्जे पर पहुँच जाए उसको सूफ़ियों की ज़बान में "शाह" कहते हैं। इसी में धीरे-धीरे इन्सान तरक़्क़ी करता है और आख़िर में ख़ुदा की राह में फ़ना हो जाता है। और एक तबक़ा है कि जो इसी को इन्सानियत की मेराज तसव्वुर करता है मगर ग़ौर की नज़र से देखा जाए तो यह दर्जा इन्सान की ज़िन्दगी का आख़री मक़सद नहीं बन सकता क्योंकि इस दर्जे में इन्सान के अन्दर इन्फ़ेरादियत और तवह्हुद यानी तनहाई का एहसास नुमायाँ नज़र आता है। हालांकि इन्सान फ़ितरी तौर पर तमद्दुनी ज़िन्दगी का हामिल है किसी शै का नुक़तए कमाल वह नहीं हो सकता जो उसकी अस्ली फितरत के साथ टकराव करे बल्कि ऐसा नुक़तए कमाल वह होगा कि जिसमें नज़री ख़ासियत हकीमाना तरबियत के साथ ज़्यादा फ़ायदेमन्द और मुनज़्ज़म शक्ल में दिखाई दे।

ग़ौर करने से मालूम होता है कि यह दर्जा भी एक दरमियानी मंज़िल है जहाँ रुक जाना सालिक के हौसले की पस्ती का नतीजा है वह जमाले मुतलक़ कि जहाँ उसकी निगाह जाकर जमी है और उसके जलवों में ग़र्क़ हो गई है एक अलग थलग हस्ती नहीं है जिसका कुछ ताल्लुक़ इस काएनात के साथ न हो बल्कि ख़ालिक़ राज़िक़ मुरब्बी और अस्ल मरकज़े फ़ैज़ और सरचश्म-ए-वजूद होने की बिना पर उसे इस काएनात के साथ और काएनात का उसके साथ ख़ास ताल्लुक़ है। वह उसकी वुस्अते रहमत से जो हर हर फ़र्द पर छाई हुई है इन्सान अगर सही मानों में किसी के साथ मुहब्बत रखता है तो हर उस चीज़ के साथ मुहब्बत होना भी ज़रूरी है जिसे उस महबूब के साथ ताल्लुक़ हो और हर उस मफ़ाद को अज़ीज़ रखना ज़रूरी है जो उसके महबूब को मद्देनज़र हो और इसलिए अगर इन्सान हक़ीक़ी माने में इश्क़े इलाही के दर्जे तक पहुँचता है तो वह

ख़लाएक़ से जुदा हो नहीं सकता बल्कि अगर जज़्बए इश्क़ ने महज़ वारफ़्ता नहीं बना दिया है और उसे महबूब की निगाहों का भी ख़याल है और उसकी मर्ज़ी भी मन्ज़ूरे नज़र है तो वह अल्लाह तक पहुँचने के बाद फिर एक बार वापस आएगा उस ख़ल्क़ की तरफ़ मगर अपनी मुहब्बत की आग़ोश को इतना कुशादा करके जो अल्लाह की वुस्अते रहमत के साथ साज़गार हो सके और इन फ़राएज़ को पेशे नज़र रखते हुए जो एहतियात ज़िन्दगी के कामियाब बनाने के लिए उसके ख़ुदा को पसन्द हैं अब उसे अल्लाह के साथ वह इश्क़ भी है जो एक शाह यानी आरिफ़ कामिल को होना चाहिए और ख़ल्क़ के साथ वह ताल्लुक़ भी है जो एक बादशाह को अपनी रिआया के साथ हमागीर तौर पर होना चाहिए। पहली मंज़िल में यानी माद्दा परस्ती के दौर में अगर इन्सान को दुनिया वालों पर हुकूमत हासिल हुई वह जिसका नाम है बादशाही तो हर वक़्त अपनी हुकूमत की गिरफ़्त को मज़बूत रखने की कोशिश करेगा अपने असर को बढ़ाने में मसरूफ़ रहेगा। अपने अज़ीज़ों दोस्तों और ख़ुशामद करने वालों को हर तरह के फ़ाएदे पहुँचाने का मक़सद सामने रहेगा। और कमज़ोरों की आज़ादी को ख़त्म करने में लज़्ज़त महसूस करेगा और यही कोशिश रहेगी कि-

''जहाँ में जहाँ तक जगह पाइये
इमारत बनाने चले जाइये''

लेकिन शाही की मंज़िल तक पहुँच जाने के बाद इन्सान को आम्मए ख़लाएक़ से जो ताल्लुक़ पैदा होगा उसमें सभी का फ़ायदा और आराम हर वक़्त सामने रहेगा। कमज़ोरों को मदद पहुँचाना नुक़्तए निगाह रहेगा। गिरते हुओं को संभालने, डूबते हुओं को निकालने और तबाह हाल अफ़राद को बचाने की कोशिश होगी। यहाँ अपने और पराए की तमीज़ न होगी, बल्कि अपना सगा भाई भी हक़ से ज़्यादा तलब करेगा तो उसकी बात रद्द कर दी जाएगी चाहे वह उस पर ख़फ़ा ही क्यों न हो जाए बल्कि आइन व क़ानून के मामले में बेटों तक की रिआयत न होगी। हर वक़्त हक़ परवरी और फ़र्ज़ शनासी से मतलब होगा। यह होगी वह बादशाहत जो शाह होने के साथ हो और ऐसा ही इन्सान हक़ीक़त में इन्साफ़ करने वाला बादशाह हो सकता है चाहे ताज व तख़्त न रखता हो और और ज़ाहिरी शानो शौकत उसके पास मौजूद न हो।

आप अगर पहली क़िस्म के बादशाहों को ढूँढना चाहें तो बहुत से नमरूद, ''फ़िरऔन और यज़ीद इसकी मिसाल पेश करने के लिए आपकी आँखों के सामने आ जाएंगे और अगर ऐसे शाह ढूँढना चाहें जो बादशाह नहीं हैं तो बहुत से दुरवेश, फ़क़ीर और तारिकुद्दुनिया तारीख़ के पन्नों पर और शायद कहीं-कहीं देखने में भी आपके सामने आ जाएं लेकिन अगर आप शाह होने के साथ बादशाह होने की मिसाल तलाश कीजिये तो आपको पैग़म्बरे इस्लाम और उनके हक़ीक़ी पैरवों में मिल सकती है और रसूल[स०] के अहलेबैत[अ०] इसका बेहतरीन नमूना हैं उनकी शाही देखना हो तो मेहराबे इबादत में देखिये और उनके अलफ़ाज़ में मारेफ़त के दरया बहते हुए देखकर अन्दाज़ा कीजिये और बादशाही देखना हो तो मजमए अस्हाब में देख लीजिये। मस्नदे क़ज़ा पर देख लीजिये या ग़रीबों और मुहताजों की सदा पर उनके तड़प जाने, ज़रूरतमन्दों की आवाज़ पर उठ खड़े होने और हर एक की ज़रूरत को फ़ौरन पूरी करने की कोशिश बल्कि कभी-कभी ग़रीबों के घर पर जाकर रातों के पर्दे में उनकी ख़बर लेने और मदद करने के मन्ज़र को देखिये।

हुसैन[अ०] उन्ही पैग़म्बरे इस्लाम[स०] के नवासे थे जिन्होंने ख़ालिक़ और मख़लूक़ के रिश्तों के इस इरतेबात का दुनिया को सबक़ दिया।

उन्होंने जिन सख़्त वक़्त में और कठिन मंज़िलों पर शाही और बादशाही के हुदूद को निबाहा है उसकी मिसाल तारीख़े इन्सानियत में नहीं मिलती है।

मौक़ा नहीं कि उनकी ज़िन्दगी की सीरत के वाक़ेओं से पूरी तरह पर इसका सुबूत पेश किया जाए मगर सिर्फ़ कर्बला की सरज़मीन पर मुहर्रम की दसवीं तारीख़ में आपने जिस-जिस तरह इसका नमूना पेश किया वह अपनी मिसाल आप है।

आशूर की अंधेरी रात जबकि तबाही की डरावनी परछाइयाँ हर तरफ़ फिरती नज़र आती थीं। मौत का फ़रिश्ता फ़ज़ा में अपने परों को खोले साया किये था। और सलामती की उम्मीद के धुंधले नुक़ूश भी धीरे-धीरे मिटते जा रहे थे बल्कि बिल्कुल मिट चुके थे। कोई दीनदार इन्सान होता तो यह रात अज़ीज़ों से दिल भरकर रुख़सत होने में ख़र्च करता। अपने पसमान्दगान को अपने बाद के लिए वसीयतें करता और कम से कम जंग की तदबीरों में मशवरे करता मगर हुसैन[अ०] कामिल ''शाह'' थे इसलिए उन्होंने अपना मुसल्ला बिछा दिया।

उनके साथ वालों के भी मुसल्ले बिछ गए और पूरी रात सिर्फ़ ख़ुदा की इबादत में गुज़ारी।

इसी के साथ हुसैन[अ०] बादशाह थे इसीलिए उन्हें यह फ़िक्र थी कि अगर साथ वाले ज़मीर की इजाज़त से अपनी जानें बचाना चाहें तो मेरे साथ अपनी जानें क्यों दें। इसलिए उन्होंने ख़ुदा की इबादत की मसरूफ़ियत के अन्दर इतना वक़्त भी निकाला कि उन सबको जमा करके यह इजाज़त दी कि तुम लोग मेरा साथ छोड़कर चले जाओ और इस रात के अंधेरे के पर्दे में मुझसे अलग हो जाओ क्योंकि दुश्मन को तो मेरी जान से मतलब है तुमसे सरोकार नहीं है तुम अपनी जान मेरी वजह से क्यों दो?

इतना ही नहीं कि उन्होंने आम तौर से यह एक तक़रीर कर दी बल्कि ख़ास तौर पर एक साथी के लिए जब यह सुना कि उनका बेटा सरहद पर गिरफ़्तार हो गया है तो उन्हें बुलाकर कहा कि तुम ख़ास तौर पर मेरी बैअत से आज़ाद हो जाओ और अपने बेटे की रिहाई की फ़िक्र करो। जब वह किसी तरह साथ छोड़ने के लिए तैयार न हुए तो आपने एक क़ीमती लिबास उनके हवाले किया कि उसे अपने दूसरे बेटे के साथ भेजो कि वह जाकर फरोख़्त करे और अपने भाई को छुड़ाने का इन्तिज़ाम करे।

क्या कर्बला के ऐसे हौलनाक मौक़े पर अपने साथियों के दुख-दर्द और तकलीफ़ का इतना ख़याल किसी मामूली इन्सान को हो सकता है।

रोज़े आशूर की क़ुर्बानियों में भी यह दोनों बातें ख़ास तौर पर नुमायाँ थीं। हुसैन[अ०] हक़ की ख़ातिर अपने अज़ीज़ तरीन दोस्तों और भाईयों भतीजों और बेटों को ख़ुशी-ख़ुशी तलवारों के अन्दर भेज रहे थे क्योंकि वह शाह थे। अल्लाह की मर्ज़ी के सामने दुनिया का कोई रिश्ता अज़ीज़ न था मगर उनकी जुदाई पर रोते भी थे। उनका ग़म भी करते थे और उनकी लाशें मक़तल से उठा-उठाकर लाते थे इसलिए कि वह बादशाह भी थे यानी मख़लूक़ात के साथ ताल्लुक़ और मुहब्बत रखते थे।

सबसे ज़्यादा सख़्त मौक़ा हुसैन[अ०] की ज़िन्दगी का वह आख़री वक़्त है जब वह ज़ख़्मों से चूर थे। कर्बला की गर्म ज़मीन और उस वक़्त क़ातिल का क़रीब आना ख़न्जर का नियाम से निकलना और हुसैन[अ०] का सजदा-ए-ख़ालिक़ में पेशानी रखे होना, दोपहर की धूप से जलती हुई रेत और ज़ख़्मी पेशानी यह शाही की बुलन्द तस्वीर है।

क़ातिल सुनता है कि हुसैन[अ०] कुछ कह रहे हैं। कान क़रीब ले गया तो कमज़ोरी से थर्राई हुई आवाज़ में यह अलफ़ाज़ सुनाई देते हैं कि ऐ ख़ुदा मैंने अपने इमकानी फ़र्ज़ को पूरा किया अब यह तेरा काम है कि तू मेरे नाना की उम्मत को अज़ाब से नजात दे।

यह था बादशाही का तक़ाज़ा जिसे हुसैन[अ०] आख़िर वक़्त तक निभा गए बिल्कुल सच है कि शाह अस्त हुसैन, बादशाह अस्त हुसैन

न ऐसी शाही कहीं नज़र आ सकती है और न बादशाही नज़र आ सकती है।

वल्लाह कि ऐ हुसैन[अ०] कारे करदी।

दीं पनाह अस्त हुसैन[अ०]

आयतुल्लाहिल उज़्मा सैयिदुल उलमा की वह तक़रीर जो 7 मुहर्रम 1366[हि०] को रेडियो स्टेशन लखनऊ से प्रसारित हुई

कोई शक नहीं कि अल्लाह का दीन जिसे इन्सानों तक पहुँचाने के लिए पैग़म्बर भेजे गए। किताबें उतारी गईं, शरीअतें जारी की गईं। जिसकी ख़ातिर नूह[अ०] ने तकलीफ़ें उठाईं, इब्राहीम[अ०] ने सख़्तियाँ झेलीं, मूसा[अ०] ने मुसीबतें बर्दाश्त कीं और ईसा[अ०] ने मुख़ालिफ़तों का मुक़ाबला किया। वह दीने इलाही जिसके पहुँचाने में मुहम्मद मुस्तफ़ा[स०] ने सदमे सहे, ज़हमतें गवारा कीं, दिल पर ज़बान के और जिस्म पर पत्थरों के ज़ख़्म खाए वह दीन जिसकी हिफ़ाज़त में हमज़ा काम आए, उबैदा बिनुल हारिस बिन अब्दुल मुत्तलिब ने जान दी, हमज़ा का जिगर चाक हुआ, जाफ़र के हाथ काटे गए और अली[अ०] उम्र भर जेहाद करते रहे।

उस वक़्त चारों तरफ़ मददगार की तलाश में आँखें फ़ाड़-फ़ाड़ कर देखता और हालात की ज़बान में पुकार-पुकार कर कह रहा था *"हल मिन नासिरिन यन्सुरनी"* कोई मददगार है ऐसा जो मेरी मदद करे, जब 60[हि०] में दमिश्क़ के तख़्ते सलतनत पर यज़ीद हुक्मरान हुआ और इमाम हुसैन[अ०] से बैअत का तलबगार हुआ।

हुसैन[अ०] ख़ूब समझते थे कि मुझ से बैअत तलब करने से उसका मक़सद क्या है। अगर सिर्फ मुल्के अरब के एक रहने वाले या क़ुरैश की नस्ल की एक फ़र्द की हैसियत से बैअत तलब की जा रही होती तो उसमें इतनी उठापटक की ज़रूरत न थी। जबकि तमाम मुल्के

अरब और हिजाज़ के सारे रहने वाले यज़ीद की बैअत कर चुके थे तो एक हुसैन[अ०] ने अगर बैअत न भी की थी तो उसूले जमहूरियत पर यज़ीद की सलतनत का क्या बिगड़ता था। एक फ़र्द और वह भी दुनिया से दूर, इज़्ज़त बचाने वाला और अलग रहने वाला, दुनिया के शोर व बुराई से अलग-थलग ख़ामोश रहने वाला।

हुसैन[अ०] का कोई दोस्त नहीं दुश्मन भी यह नहीं बयान कर सका कि हुसैन[अ०] ने अपने मदीने के क़याम में कोई तक़रीर शाम की हुकूमत के ख़िलाफ़ की, कभी कोई ख़त व किताबत की किसी तरह की भी कोशिश यज़ीद के मुक़ाबले पर की हो या किसी सूरत पर भी साकिन फ़ज़ा को मुतहर्रिक बनाना चाहा तो। फिर सिर्फ़ एक मन्फ़ी (Negative) तर्ज़े अमल यानी बैअत न करना यज़ीद को क्या नुक़सान पहुँचा सकता था जबकि अरब में कितनी ही बड़ी कान्फ्रेंसें यज़ीद की बैअत लेने के लिए हुई हों कितने ही बड़े पैमाने पर इस तहरीक का सबको पाबन्द बनाया गया हो लेकिन हज़ारों आदमी इस मुल्क के फिर भी ऐसे होंगे जिनसे न यज़ीद की बैअत का मुतालबा हुआ न उन्होंने बैअत करने का कोई मुज़ाहेरा किया।

खुद बनी हाशिम के ख़ानदान में अब्दुल्लाह बिन जाफ़र भी तो थे। मुहम्मद बिन हनफ़िया भी तो थे। उमर बिन अली[अ०], औन बिन अली[अ०] और हुसैन[अ०] बिन अली[अ०] के दूसरे भाई भी तो थे। उनमें से किसी एक से बैअत का मुतालबा ज़रूरी नहीं समझा गया, बस सिर्फ़ हुसैन[अ०] वह थे जिन पर यज़ीद की तमाम कोशिशें मरकूज़ हो गईं कि आपसे बैअत ली जाए।

इसी से साफ़ ज़ाहिर था कि हुसैन[अ०] से बैअत का माँगना अरब के एक शख़्स और हिजाज़ के एक रहने वाले और कुरैश या बनी हाशिम की एक फ़र्द की हैसियत से नहीं है बल्कि आपसे बैअत का माँगना इस खुसूसियत के लेहाज़ से है कि हुसैन[अ०] रसूल[स०] के ख़ानदान की अज़्मत के नुमाइन्दे, अली[अ०] के जानशीन और हज़रत मुहम्मद मुस्तफ़ा[स०] के क़ायम मक़ाम हैं। हुसैन[अ०] से बैअत लेने का मतलब यह था कि इस्लाम के बानी हज़रत मुहम्मद मुस्तफ़ा[स०] की बारगाह से यज़ीद अपने कामों पर तस्दीक़ की मुहर लगवा ले और इस तरह दुनिया को इस ग़लतफ़हमी में मुबतिला करे कि यज़ीद का चलाया हुआ समाजी क़ानून और हुकूमत हक़ है। इस लिए हुसैन[अ०] से बैअत का मुतालबा किया गया हुसैन[अ०] ने अपने मौक़े की नज़ाकत महसूस कर ली।

उन्होंने समझ लिया कि मेरी बैअत के माने यह है कि अली[अ०] ने बैअत की और मेरी बैअत के माने यह हैं कि मुहम्मद मुस्तफ़ा[स०] ने इस निज़ाम को मान लिया और मेरी बैअत के माने यह हैं कि हक़ बातिल के सामने, सच झूठ के सामने और दीन लादीनी के सामने हमेशा के लिए झुक गया। हुसैन[अ०] जानते थे कि बैअत न करने का अन्जाम क्या होगा मगर वह जैसे महसूस कर रहे थे कि इस वक़्त दीने इस्लाम की नज़र मेरे चेहरे पर है और यह देख रहा है कि मेरी हिफ़ाज़त की ख़ातिर हुसैन[अ०] किसी ईसार व कुर्बानी पर तैयार हो सकते हैं या नहीं।

हुसैन[अ०] जानते थे कि यह वह दीन है जो मेरे मालिक, मेरे माबूद और मेरे ख़ालिक़ की अमानत है इसलिए बहैसियते मख़लूक़, बहैसियते अब्द और बहैसियत ममलूक मुझे उसकी हिफ़ाज़त ज़रूरी है। यह मेरे नाना मुहम्मद रसूलुल्लाह[स०] की तमाम उम्र की तकलीफ़ों ज़हमतों और कोशिशों का नतीजा है इसलिए फ़रज़न्दे रसूल[स०] होने की हैसियत से मुझे इसकी हिमायत लाज़िम है। और इस दीन की मज़बूती मेरे बाप अली मुर्तज़ा[अ०] की तलवार का नतीजा है इसलिए अली[अ०] के जानशीन होने की हैसियत से भी मुझ ही को सीनासिपर होना चाहिए।

कोई शक नहीं कि दीने इस्लाम उस वक़्त बेकसी और बेबसी के आलम में था उसकी आईन (क़ानून) और उसकी तालीम को शाम से निकाला जा रहा था। इराक़ में कोई उसकी हिफ़ाज़त का मरकज़ न था और हिजाज़ में कोई पनाह न थी सब तरफ से नाउम्मीद होकर वह दीन हुसैन[अ०] के दामन में पनाह ले रहा था और हुसैन[अ०] ने यह तै कर लिया कि मैं जान दूँगा मगर इस दीन को बचाऊँगा। सिर्फ़ जान ही नहीं जान को राहे खुदा में मुजाहिद देते रहे थे बल्कि जान से ज़्यादा अज़ीज़ दिल के टुकड़े भी कुर्बान किये जाएंगे। और इससे बढ़कर इस्मत के पर्दे में रहने वाली औरतों को क़ैद व बन्द की मुसीबतों कें लिए भी दीन के लिए बेपर्दा किया जाएगा।

हुसैन[अ०] ने अपनी कुर्बानी भी 61[हि०] में मुहर्रम के महीने में जुमा के दिन और दसवीं तारीख़ कर्बला के मैदान में पेश कर दी। शहीदों के लाशे ज़मीन पर थे हुसैन[अ०] के ख़ेमों से आग के शोले बुलन्द थे। रसूल[स०] के ख़ानदान की औरतें क़ैद की जा रही थीं और सदाक़त की ज़बान बुलन्द आवाज़ से पुकार रही थी बेशक-

"दीन पनाह अस्त हुसैन[अ०]"